दक्षिणी राज्यों का असंतोष

कुछ समय से दक्षिण व उत्तर भारत के बीच एक दूरी बनती जा रही है। इसके कुछ कारण हैं। चिन्ता की बात यह है कि इन दोनों क्षेत्रों में बढ़ती अलगाव की लपटें कहीं देश को झुलसा न दें।

सांस्कृतिक रूप से जटिल किसी भी समाज में क्षेत्रीय पहचान की पुनर्व्याख्या की जाती है। इस पूरे सोपान को अत्यंत संजीदगी के साथ संभाला जाना चाहिए, क्योंकि यह संवेदनशील होता है। दक्षिण के संदर्भ में भी सरकार को ऐसी ही सावधानी बरतने की आवश्यकता है। वरना यह दक्षिण भारत को आग उगलने के लिए एक उपजाऊ जमीन प्रदान कर सकता है।

- ✓ केन्द्र में भाजपा की सरकार का होना और उससे जुड़े हिन्दुत्व के पुनरुत्थान के कारण वैसे ही विपरीत दबाव क्षेत्र बन गए हैं। भाजपा की राजनीतिक मशीनरी के लिए दक्षिण में पाँव पसारना कोई मुश्किल काम नहीं है। परन्तु भाजपा जिस प्रकार के अशुद्ध संस्कृतवाद और देशभक्ति के थुलथुले आदर्शों की भाषा बोलती है, उसका अधिक प्रभाव हिन्दी भाषी क्षेत्रों में ही अधिक है। भाजपा की विचारधारा के प्रदर्शन में हिन्दुत्व और राष्ट्रीयता का जो विचित्र तालमेल है, वही भ्रामक है। अपनी इस शैली के चलते भाजपा को क्षेत्रीय असंतोष का सामना करना पड़ सकता है।
- ✓ नवंबर 2017 में पन्द्रहवें वित्त आयोग का गठन किया गया है। आयोग का प्रमुख काम यह देखना है कि 'करों से मिलने वाले शुद्ध राजस्व का केन्द्र और राज्यों के बीच बंटवारा किस प्रकार हो और इस राजस्व से विभिन्न राज्यों को रकम किस प्रकार आवंटित हो।'

इस बार वित्त आयोग को कहा गया है कि वह 2011 की जनगणना के आँकड़ों का इस्तेमाल करते हुए राजस्व का बंटवारा करे, न कि 1971 की जनगणना के आंकड़ों का, जो अब तक होता रहा है। ऐसा करना उन राज्यों के लिए सजा है, जिन्होंने अपनी आबादी के स्थिरीकरण की दिशा में 1971 से 2011 के बीच शानदार काम किया है। इसमें दक्षिणी

राज्यों को सबसे अधिक नुकसान हो रहा है। 1971 की जनगणना में उनका हिस्सा 24.7 फीसदी था, जो 2011 में कम होकर 20.7 फीसदी रह गया है। इससे दक्षिणी राज्यों की हिस्सेदारी घट जाएगी।

- ✓ दक्षिण भारत में जाति की राजनीति अभी भी जोरों के साथ चलाई जा रही है। यद्यपि उत्तरी राज्यों की कुटिलता भरी जातीय राजनीति दक्षिणी राज्यों में नहीं है। परन्तु तमिलनाडु जैसे राज्यों में अभी भी जातिगत राजनीति की संस्कृति व्याप्त है। यहाँ की राजनीतिक पार्टियों ने एक प्रकार से उप-राष्ट्रवाद की राजनीति को जन्म दे रखा है। यह भी यहाँ दो स्तरों पर पनप रहा है। एक तो उत्तर भारत के वर्चस्व के रूप में, और दूसरा इन राज्यों के अंदर ही सामाजिक पृथकत्व के रूप में।

पुरानी पार्टी प्रथा के समाप्त होने के साथ-साथ नए समूह स्थान लेते जा रहे हैं। इन समूहों में राष्ट्रीय स्तर पर बने राजनीतिक समूह हैं, जो राज्य के सांस्कृतिक अलगावों की खाई को पाटने में नाकाम हैं दूसरे, राज्यों के अपने राजनीतिक समूह हैं, जो अभी नवोदित हैं, और अत्यंत नाजुक स्थिति में हैं।

- ✓ एक समस्या केन्द्रीकरण की भी है। अपनी विचारधारा और कार्यशैली में भाजपा एक केन्द्रीकृत दल है। ऐसा लगता है कि वर्तमान सरकार की रुचि राज्यों की जगह केन्द्र सरकार को हर बात का श्रेय देने की अधिक है। कोई भी सरकार चाहे कितना भी राजकोषीय या प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण का प्रयास करे, यदि अलग-अलग राज्य एक ही पार्टी संरचना में बंद हो जाएं, तो इसका शुद्ध प्रभाव केन्द्र में ही अधिक शक्ति केन्द्रित होने के रूप में देखा जाता है। केन्द्र द्वारा चलाई गई जिला स्तरीय योजनाओं से लेकर सभी केन्द्रीय योजनाएं इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं कि केन्द्र के प्रभुत्व वाले तंत्र में सहकारी संघवाद का अर्थ केन्द्र की शर्तों पर चलना ही है। इसी अनुभव के आधार पर दक्षिण के राज्यों को आशंका है कि वित्त आयोग तो केन्द्र की ओर झुकेगा।

गठबंधन सरकार में राज्यों की वैचारिक या अन्य प्रकार की भिन्नता को सुलझाना आसान होता है, क्योंकि वहाँ केन्द्र में राज्यों की साझेदारी की भावना होती है।

राजनीति में शक्ति के संतुलन और सांस्कृतिक पहचान के नए रूपों पर बातचीत होना कोई नई बात नहीं है। परन्तु कुछ स्थितियां ऐसी होती है, जब ये विस्फोटक स्तर पर पहुँच जाती है। दक्षिण भारत के साथ केन्द्र के संबंधों को मात्र वित्त आयोग से जोड़कर देखना सही नहीं होगा। इस पूरे प्रकरण में मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक आशंकाएं स्थिति को बिगाड़ रही हैं।

'द इंडियन एक्सप्रेस' में प्रकाशित प्रतापभानु मेहता के लेख पर आधारित।